

श्रमण : महावीर तीर्थ का प्रमुख स्तम्भ

महोपाध्याय विनयसागर

श्रमण भगवान् महावीर ने तीव्र एवं कठोरतम साधना कर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया। ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् सर्वजनहिताय उन्होंने सदुपदेश दिया। स्वानुभूति के आलोक में कथित उनकी वाणी को सुनकर अनेक लोग प्रभावित हुए। अनेक राजा, महाराजा, उनकी रानियाँ, राजकुमारियाँ, राजकुमार, सार्थवाह, श्रेष्ठि, विद्वगं तथा सभी वर्गों एवं वर्णों के नारी-पुरुष उनके शिष्य बने, गणधर आदि बने। अपने विशाल शिष्य समुदाय को दीक्षित कर उन्होंने अपने तीर्थ की स्थापना की। इस तीर्थ को अनुशासित और सुव्यवस्थित रखने के लिये उन्होंने चतुर्विध संघ की व्यवस्था प्रदान की। इसी संघ की पावनता को परख कर ही आप्त शास्त्रकारों ने इसे तीर्थ, महातीर्थ, धर्मतीर्थ, सर्वोदय तीर्थ, अभ्युदयकारी शासन आदि गरिमा मण्डित संज्ञाओं/नामों से अभिहित किया है।

चतुर्विध संघ/तीर्थ की सुव्यवस्था एवं उत्कर्ष के लिये परवर्ती श्रुतधर तथा आप्त आचार्यों ने गच्छ, कुल, गण व संघ के नाम से उपविभाग भी किये हैं। जिसमें श्रमण एवं श्रमणियों (साधु-साध्वियों) की सुविधापूर्वक देख-रेख, शिक्षा-दीक्षा व व्यवस्था सम्पन्न की जा सकती हो, ऐसे समूह को "गच्छ" कहा जाता है और उसके नायक या व्यवस्थापक को "गच्छाचार्य" कहा जाता है। अनेक गच्छों में विभक्त इस समुदाय को "कुल" कहा गया है, अर्थात् अनेक गच्छों का एक कुल होता है। कुल के प्रमुख नायक को "कुलाचार्य" कहा गया है। इसी प्रकार अनेक कुलों के समूह को "गण" और उसके अधिपति को "गणाचार्य" तथा अनेक गणों के समुदाय को "संघ" एवं संघाधिपति आचार्य को "गणधर" "संघाचार्य" के गौरव से विभूषित किया गया है। यही संघाचार्य चतुर्विध संघ की सुव्यवस्था एवं कार्य-संचालन करते हैं।

कल्पसूत्र-गत स्थविरावली के अनुसार देवधिगणि क्षमाश्रमण के समय तक इस तीर्थ में ८ गण, २७ कुल और ४५ शाखाओं का प्रचलन था और इनके अधिकारी/शासक/व्यवस्थापक वर्ग को क्रमशः गणधर, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक, गणि और गणावच्छेदक पदों से संबोधित किया गया है।

वर्तमान समय में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज में जो भी खरतरगच्छ, तपागच्छ, अंचलगच्छ आदि गच्छों के नाम से प्रचलित/प्रसिद्ध हैं, वे सब कोटिक गण, चन्द्रकुल और वज्रशाखा के अन्तर्गत आते हैं और खरतर तथा तपा आदि 'विरुद/उपाधि' के धारक हैं। वस्तुतः ये पृथक्-पृथक् गच्छ नहीं हैं। उनका तो सुस्थितसूरि का कोटिक गण, चन्द्रसूरि का चन्द्रकुल एवं आर्यवज्र से निसृत वज्रशाखा ही गण, कुल एवं शाखा है। ये विरुद तो जिनेश्वर-सूरि और जगच्चन्द्रसूरि की उत्कृष्ट संयम-साधना को देखकर तत्कालीन नरेशों ने प्रदान किये थे अथवा उनके विशिष्ट गुणों या क्रिया-कलापों से उनकी परम्परा उक्त विरुदों से प्रसिद्ध

हुई थी। निष्कर्ष यह है कि वर्तमान के समस्त गच्छ एक ही आचार्य की संतानें हैं और इन सबका एक ही गण है और वह है, कोटिक गण।

अधुना गच्छों के व्यवस्थापक नेता भी आचार्य, महोपाध्याय, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक, पन्यास एवं गणि पद को सुशोभित करते हैं।

महिला-श्रमणी वर्ग में सुसंचालिका अधिकारिणी पूर्व काल के समान ही आज भी “महत्तरा, प्रवर्तिनी, स्थविरा और गणिनी” पद को विभूषित करने वाली होती हैं।

प्रभु महावीर द्वारा स्थापित तीर्थ-चतुर्विध संघ में श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविका होते हैं एवं ये अपनी विशेषताओं से इस तीर्थ की संस्कृति को संवारते/निखारते हैं।

चतुर्विध संघ के प्रासाद का मुख्य स्तम्भ श्रमण है, अतः इस पर विवेचन अपेक्षित है।
श्रमण का अर्थ :

श्रमण शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियों के अनुसार पूर्वाचार्यों/शास्त्रकारों ने जो अर्थ परिभाषित किये हैं, वे निम्नांकित हैं—

१. जो तप करता है, वह श्रमण है।
२. जो पाँचों इन्द्रियों और मन को शमित करते हैं अथवा सांसारिक विषयों से उदासीन रहते हैं या तप करते हैं, वे श्रमण हैं।
३. जो स्वयं के श्रम/पुरुषार्थ से भव-बन्धनों को तोड़ता है, स्वयं को मुक्त करता है। वह श्रमण है।
४. जो स्व-स्वरूप की उपलब्धि के लिये अन्य किसी की अपेक्षा रखे बिना श्रममयी साधना करता है, वह श्रमण है।
५. जो त्रस-स्थावर रूप समस्त प्राणियों में समानभाव रखते हुए श्रद्धापूर्वक तप का आचरण करता है, वह श्रमण है।

श्रमण शब्द संस्कृत भाषा का है और इसका प्राकृत भाषा का रूप है—“समण”। इसके पारिभाषिक अर्थ प्राप्त होते हैं :—

१. जो सभी प्राणियों पर समानता का भाव रखता है, वह समण है।
२. जो समता भाव का धारक है, वह समण है।
३. जो किसी से द्वेष नहीं करता, जिसको सभी जीव समान भाव से प्रिय हैं, वह समण है।
४. जो सब जीवों के प्रति समान मन/हृदय रखता है, वह समण है।
५. जो सु-मन वाला है, जो कभी भी पापमना नहीं होता, अर्थात् जिसका मन सर्वदा स्वच्छ, प्रसन्न और निर्मल रहता है, वह समण है।
६. जो स्वजन एवं परजन में, मान एवं अपमान में, प्रशंसा और गाली में सर्वत्र और सर्वदा सम/सन्तुलित रहता है, वह समण है।
७. जो शत्रु एवं मित्र में समान रूप से प्रवृत्ति करता है, वह समण है।

८. जिस प्रकार दुःख मुझे प्रिय नहीं लगता है, उसी प्रकार संसार के समस्त जीवों को भी प्रिय नहीं लगता है। ऐसा समझ कर जो न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से करवाता है, सर्वत्र सम रहता है, वह समण है।
९. सूत्रकृतांग सूत्र १-१६-२ में समण का सांगोपांग निर्वचन करते हुए कहा गया है :—
जो सर्वत्र अनिश्चित है, आसक्ति नहीं रखता, किसी प्रकार के सांसारिक भोगोपभोग की अभिलाषा नहीं रखता, किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रखता, प्राणीमात्र की हिंसा नहीं करता, असत्य नहीं बोलता, काम वासना के विचारों से रहित है, क्रोध-मान-माया-लोभ-राग, द्वेष तथा प्राणातिपात (हिंसा) आदि जितने भी कर्म-बन्धन और आत्मपतन के हेतु हैं उन सभी से निवृत्त-मुक्त रहता है, इन्द्रियों का विजेता है, शुद्ध संयमशील है और शारीरिक मोह-ममत्व से रहित है, वह समण कहलाता है।
१०. “समण” का संस्कृत में एक रूप “शमन” भी होता है; जिसका अर्थ है :—अपनी चंचल मानसिक वृत्तियों का शमन करने वाला या शान्त करने वाला।

श्रमण का जीवन :

श्रमण उग्र एवं विशिष्टतम साधना के माध्यम से स्व-स्वरूप को उजागर करता हुआ अपने जीवन/व्यक्तित्व को सर्वदा/सर्वत्र निखारता रहता है और साधना से प्राप्त असीम उपलब्धियों द्वारा संस्कृति/समाज को संवारता रहता है। साधनामय तपोपूत जीवन से उसका व्यक्तित्व कितना परिष्कृत/विशुद्ध एवं गरिमामय हो जाता है? गुणोपेत श्रमण का व्यक्तित्व कैसा हो जाता है? इसका विवेचन करते हुए कहा गया है :—

“उरग-गिरि-जलण-सागर-नहतल-तरुणसमो अ जो होई।

भमर-मिय-धरणि-जलरुह-रवि-पवणसमो अ सो समणो ॥”

१. जो श्रमण “उरगमय” सर्प के समान दूसरे के लिये निर्मित आवास-स्थान में रहता है, अर्थात् स्व के लिये विनिर्मित स्थान में नहीं रहता है।
२. जो “गिरिसम” पर्वत के समान परीषह एवं उपसर्गों को निष्कम्प होकर सहन करता है।
३. जो “जलणसम” अग्नि के समान तपसाधना से जाज्वल्यमान/तेजस्वी होता है, अथवा जैसे अग्नि घास से कदापि तृप्त नहीं होती, वैसे ही जो स्वाध्याय से कदापि तृप्त नहीं होता है।
४. जो “सागरसम” समुद्र के समान ज्ञानादि रत्नों और गाम्भीर्यादि गुणों के धारक होते हैं एवं अपनी साधवाचार की मर्यादा का कभी भी उल्लंघन नहीं करते हैं।
५. जो “नहतलसम” आकाश के समान किसी का आलम्बन/आश्रय/सहयोग न लेकर “स्व” के बल पर विचरण करता है।
६. जो “तरुणसम” वृक्षों के समान सुख और दुःख में विकार को प्रदर्शित नहीं करता है।
७. जो “भमरसम” भ्रमरों के समान अनियत-वृत्ति होता है अर्थात् अनेक गृहों से थोड़ी-थोड़ी सी भिक्षा ग्रहण करता है।

८. जो “मृगसम” श्रमण-चर्या की साधना में सर्वदा चौकन्ना एवं सरल स्वभावी रहता है ।
 ९. जो “धरणिमस” पृथ्वी के समान समस्त कण्टों/उपद्रवों को सहन करता है ।
 १०. जो “जलरुहसम” कमल के समान निर्लिप्त रहता है ।
 ११ जो “रविसम” भेदभाव से रहित होकर श्रुतज्ञान का प्रकाश करता है ।
 १२. जो “पवन सम” पवन के समान अप्रतिहत गति वाला होकर सर्वत्र विचरण करता है ।
 उक्त बारह गुणों से जो युक्त/समृद्ध होता है, वही श्रमण कहलाता है ।

किस प्रकार के आचरण वाला एवं गुण सम्पन्न मुनि मोक्ष प्राप्त कर सकता है ? इसका उत्तर देते हुए शास्त्रकारों ने कहा है :—

“सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुत-सुखविहि-मंदरिन्दु-मणी ।
 खिदि-उरगंबरसरिसा, परमपय विमगया साह ॥”

अर्थात् सिंह के समान पराक्रमी, हाथी के समान स्वाभिमानी, वृषभ के समान भद्र, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह, वायु के समान निस्संग, सूर्य के समान तेजस्वी, सागर के समान गम्भीर, मेरु के समान निश्चल, चन्द्रमा के समान शीतल, मणि के समान कान्तिमान्, पृथ्वी के समान सहिष्णु, सर्प के समान अनियत आश्रयी तथा आकाश के समान निरवलम्ब साधु ही परम पद मोक्ष के मार्ग पर चलता है ।

श्रमण के पर्यायवाची शब्द :

आगम ग्रन्थों, प्रकरण ग्रन्थों एवं कोषों में श्रमण के पर्यायवाची शब्द भी बहुतायत से प्राप्त हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य हैं :—

| | | |
|----------------|----------------|-------------|
| १. निर्ग्रन्थ, | २. भिक्षु | ३. यति |
| ४. अनगर | ५. मुनि | ६. साधु |
| ७. माहण | ८. वाचंयम | ९. मुमुक्षु |
| १०. ऋषि | ११. व्रती, आदि | |

उक्त प्रत्येक शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न होते हुए भी सभी शब्द श्रमण के समानार्थी हैं और भिन्न-भिन्न दृष्टियों से साधनापरक व्यक्तित्व के द्योतक हैं । इन प्रत्येक शब्दों के व्युत्पत्ति-परक अर्थ निम्नलिखित हैं :—

१. निर्ग्रन्थ - धन, धान्यादि नौ प्रकार के बाह्य परिग्रह और राग-द्वेषादि अन्तरंग परिग्रह से रहित होता है
 २. भिक्षु - आठ प्रकार के कर्मों का भेदन करता है, अथवा भिक्षा से शरीर निर्वाह करता है ।
 ३. यति - समस्त प्रकार के संगों से रहित होता है अर्थात् निस्संग होता है । अथवा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है । अथवा क्षान्ति, ऋजुता, मृदुता आदि दशविध धर्म का पालन करता है ।

४. अनगार – जिसने घर-वार का त्याग कर दिया है ।
५. मुनि – राग-द्वेष, ईर्ष्या, निन्दा आदि से रहित होता है । अथवा मौन रहकर स्वाध्याय, ध्यान एवं संयम-साधना करता है ।
६. साधु – श्रेष्ठतम क्षमादि विशिष्ट गुणों से अपनी आत्मा को भावित करता है । अथवा सम्यग् दर्शनादि त्रिरत्नों के माध्यम से परमपद की साधना करता है ।
७. माहन – हिंसा से निवृत्त होता है अर्थात् त्रिकरण योग से पूर्णतः अहिंसक होता है ।
८. वाचंयम- वाणी (भाषा समिति, वचनगुप्ति) पर नियंत्रण रखता है ।
९. मुमुक्षु – संसार-भवसमुद्र से मुक्त होने की इच्छा रखता है ।
- १० ऋषि – आत्म-तत्त्व का ज्ञाता होता है अथवा आत्मदर्शी होता है ।
११. व्रती – पांच महाव्रतों एवं ज्ञानाचारादि पांच आचारों का पालक होता है ।
१२. संयमी – सत्रह विध संयम का विशुद्ध रूप से पालन करता है ।

नामधारी श्रमण :

जैन परम्परा में जिस प्रकार निर्ग्रन्थ को श्रमण शब्द से विभूषित किया गया है उसी प्रकार वैदिक एवं बौद्ध परम्परा में भी ऋषि-मुनियों के लिये श्रमण शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है । प्रवचनसारोद्धार में उल्लेख मिलता है :—

निर्ग्रन्थ (जैन साधु), शाक्य (बौद्ध साधु), तापस (जटाधारी वैदिक ऋषि,) गैरुक (लाल वस्त्रधारी संन्यासी) और आजीवक (गोशालक के अनुयायी साधु) भी श्रमण शब्द से सम्बोधित होते हैं । किन्तु, जैन श्रमण और अन्य श्रमणों में महदन्तर है । जैन मृनि का मन वीतराग वाणी से वासित होता है, यथार्थतः आत्मलक्षी होकर उत्कृष्ट संयम साधना में लीन रहता है, रागादि कषायों का पूर्णतः निरोध करने के लिये सतत प्रयत्नशील है और अपनत्व का त्याग कर देता है, जो अन्य नामधारी श्रमणों में पूर्णतः प्राप्त नहीं होता है । अतः जैनेन्द्र पर्युपासकों के लिये निर्ग्रन्थ श्रमण ही अभीष्ट और आराध्य है, अन्य श्रमण नहीं ।

श्रमण के भेद :

नामधारी श्रमणों की तरह जैन निर्ग्रन्थ-श्रमणों के प्रतिपादित पाँच भेदों में दो भेद भी वैसे ही हैं, अर्थात् सदगुरु तो दूर, गुरु की कोटि में भी नहीं आते हैं, वे केवल वेषधारी श्रमण हैं । तत्त्वार्थसूत्र में जो पाँच भेद बताये हैं, वे निम्न हैं :—

- | | | |
|----------------|-----------|-----------|
| १. पुलाक, | २. बकुश, | ३. कुशील, |
| ४. निर्ग्रन्थ, | ५. स्नातक | |

इन पाँचों का सामान्य अर्थ क्रमशः इस प्रकार है :—

१. पुलाक – मूल गुणों में अपूर्णता और उत्तर गुणों का सम्यक्तया पालन नहीं करते हुए भी आगम-मर्यादा से विचलित नहीं होने वाला पुलाक/पयाल

अर्थात् निस्सारधान्य के समान इनका जीवन निःसार होता है ।

२. बकुश — व्रतों का पालन करते हुए भी शरीर और उपकरणों पर ममत्व होने के कारण उन्हीं को संस्कारित करने वाला, सिद्धि तथा यश-प्रतिष्ठा का अभिलाषी, सुखशील तथा शबल अतिचार दोषों से युक्त ।
३. कुशील — इसके दो भेद हैं :—प्रतिसेवना कुशील और कषायकुशील ।
प्रतिसेवना—इन्द्रियों का वशवर्ती होने से उत्तर गुणों की विराधना-मूलक प्रवृत्ति करने वाला ।
कषाय-तीव्र कषाय से रहित होकर भी मन्द कषायों के वशीभूत हो जाने वाला ।
४. निर्ग्रन्थ — सर्वज्ञता न होने पर भी जिसमें रागादि का अत्यन्त अभाव हो और अन्तर्मुहूर्त के बाद ही सर्वज्ञता प्रकट होने वाली हो ।
५. स्नातक — जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो गई हो ।

उक्त पाँच भेदों में प्रारम्भ के तीन भेद व्यावहारिक श्रमण के बोधक हैं और शेष दो तात्त्विक श्रमण के । अतः अन्तर्दृष्टि से, आत्मिक विशुद्धि की दृष्टि से निर्ग्रन्थ एवं स्नातक भेद ही उपादेय हैं ।

श्रमण का धर्म :

श्रमण पूर्णतः आस्रवादि का प्रत्याख्यान करता है अतः वह सर्वविरति कहलाता है । उसके मुख्य-मुख्य धर्म हैं :—

१. महाव्रत—पाँच महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का उनकी पञ्चीस भावनाओं के साथ सम्यक्तया त्रिकरण-त्रियोग के साथ पालन करता है । फलतः वह अनास्रवी, अनारंभी और अनासक्त हो जाता है और संवरोन्मुखी बनकर निर्जरक बनता जाता है ।

२. प्रतिक्रमण—उपयोग/विवेक पूर्वक महाव्रतों का पालन करते हुए कदाचित् अतिचार/दोष लग जाते हैं, उनपर तत्काल या प्रातः—सायं विचार कर प्रायश्चित्त करना । अर्थात् उभयकाल प्रतिक्रमण के माध्यम से उन दोषों की शुद्धि करना ।

३. सामायिक—प्रतिक्षण समभाव; उपशम, शान्ति, क्षमा-भाव से निर्वैर एवं निष्क्रोध रहते हुए संयम गुणों की वृद्धि करना/कषायादि अन्तर्शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना ।

४. चारित्र्य—सामायिक और छेदोपस्थापन में रहते हुए, अप्रमत्त होकर परिहार विशुद्धि और सूक्ष्म सम्पराय की प्रगति करते हुए यथाख्यात की प्राप्ति करने का प्रयत्न करना ।

५. इन्द्रिय-दमन—पाँचों इन्द्रियों और उसके २३ विषयों/विकारों पर विजय प्राप्त करना ।

६. व्यवहार—गीतार्थ बनकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार व्यवहार/व्यवस्था करना और निर्मायी तथा निश्चल आचरण करना ।

७. निराहार—संभव हो, शरीर साध्य हो, मानसिक शैथिल्य न आए वहाँ तक सम-भाव एवं निष्कामना-पूर्वक उग्र तपश्चरण द्वारा पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा करना। शारीरिक क्षमता की दृष्टि से निराहार रहना सम्भव न हो तो उनोदरी आदि ६ भेदों वाली बाह्य तपस्या का अवलंबन लेना। संयम-पालन की भावना को प्रधानता देते हुए, शारीरिक क्षुधा को शान्त करने लिये गोचरी के ४७ दोषों को टालते हुए गवेषणापूर्वक मधुकरी प्राप्त करना और अनासक्ति पूर्वक भक्षण करना। उत्सर्ग मार्ग में एकासन और ६ विगय रहित भोजन तो आवश्यक है ही।

८. स्वाध्याय—पठन, पाठन, अर्थ-चिन्तन, सूत्रालापकों की पुनरावृत्ति आदि से शास्त्रों के स्वाध्याय में तल्लीन रहना।

९. ध्यान—योग की प्रणालिका से बाह्य शुद्धि पूर्वक मनोनिग्रह करते हुए, निर्विकल्प समाधि शुक्लध्यान की ओर प्रगति करना।

१०. सेवा—निरभिमानी बनकर तीर्थ एवं तीर्थोपासकों की सेवाशुश्रूषा में संलग्न रहना। शासन की सेवा एवं प्रभावना के लिये सर्वदा कटिबद्ध रहना। यश-कीर्ति से दूर रहना।

११. परीषह—साधना काल में जो भी अनुलोम या प्रतिलोम परीषह/उपसर्ग/कष्ट आदि को तितिक्षा पूर्वक सहन करते हुए संयम को उज्ज्वल बनाना।

१२. समिति—संयम-पथ को विशुद्ध बनाने के लिये अष्ट प्रवचन माता—५ समिति एवं ३ गुप्ति का विवेक पूर्वक पालन करना और भाषा-संयम रखते हुए केवल उपदेश देना एवं आदेशात्मक वाणी का पूर्णतः परिहार करना।

१३. भावना—“सवि जीव करूं शासन रसी” जैसी उच्चतम विचार-सरणि रखते हुए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, अनित्यादि बारह भावनाओं का सतत चिन्तन करना।

१४. विहार—गुरु-वृद्ध-ग्लान सेवा के अतिरिक्त सर्वदा अप्रतिबद्ध विहार, भ्रमण करना।

१५. निवास—निर्जन स्थानों-नगर के बाहर वनों, उद्यानों में रहना। जन सम्पर्क एवं कोलाहल के स्थानों से दूर रहना।

१६. मार्ग—सर्वज्ञ वाणी पर अटूट विश्वास/निष्ठा रखते हुए उत्सर्ग मार्ग पर चलना। कदाचित् कारणवश अपवाद का अवलंबन लेना पड़े तो तत्काल ही प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्धि कर लेना।

आचार—

सामान्यतः श्रमणों की दो कोटि मानी गई है :—

१. जिनकल्प, २. स्थविरकल्प। जिनकल्पी पूर्णतः अचेलक एवं करपात्री होते हैं। जिनकल्प मार्ग कठिनतम एवं उत्कृष्टतम होने के कारण वर्तमान में विच्छिन्न सा है। स्थविरकल्पी मुनि आचारांग एवं कल्पसूत्रादि के अनुसार कम से कम एक और अधिक से अधिक तीन वस्त्र एवं पात्र रखता था। नगर-निवास की प्रक्रिया का प्रारम्भ होने पर साधु के लिये १४ वस्त्रों की मर्यादा पूर्वाचार्यों ने निर्धारित कर दी। नगर-निवास, अत्यधिक जन-सम्पर्क एवं

दुष्काल आदि अनेक कारणों और व्यवधानों ने शास्त्रीय साधुमार्ग पर प्रबल कुठाराघात किया। इसी के फलस्वरूप शिथिलाचार और अपवाद के आलंबन ने साधु-चर्या को खोखला बना दिया। भेद विज्ञानधारक साधक की वह साधना विलुप्त होती चली गई और रह गई केवल परम्परा और चिह्न। वस्तुतः आत्मसाधक के लिये शिथिलाचार, अपवाद का आलंबन, सर्वज्ञ वाणी के स्थान पर परम्परा एवं वेष का महत्त्व हेय है, त्याग करने योग्य है।

निष्कर्ष यह है, श्रमण भगवान् महावीर के प्रस्थापित तीर्थ/शासन का प्रमुख अंग श्रमण/निर्ग्रन्थ है। आत्म-साधक मुमुक्षु अनगार यदि शास्त्रीय श्रमण के अर्थ के अनुसार अपने जीवन को ढालते हुए, उक्त श्रमण-धर्म का परिपूर्णतया सम्यक् प्रकार से पालन करता है तो वह प्रभु महावीर का सच्चा श्रमण है, महावीर का अधिकारी है। श्रमण-धर्म का पालन कर वह निश्चयतः निष्पाप, विशुद्धचेता, इन्द्रियजेता बनकर आत्मा की विशुद्धतम स्वाभाविक दशा को प्राप्त कर लेता है, और सच्चा सद्गुरु बन जाता है।

